

एक संघ कार्यकर्ता की पीड़ा: भाजपा और संघ नेतृत्व अपने कार्यकर्ताओं के साथ दृढ़तापूर्वक खड़ा क्यों नहीं होता ?



ये १९६० के दशक की बात है। मैं एक बाल स्वयंसेवक था। संभवतः मेरे जन्म के कुछ महीनों बाद ही मुझे कोई संघ स्थान पर ले गया होगा। पिता जिला संघचालक थे। बलिया में जब सरस्वती शिशु मंदिर प्रारंभ हुआ तो मैं उसका पहला विद्यार्थी बना। उसके पहले मैं माँटिसरी स्कूल में पढ़ता था।

मैं उन बाल स्वयंसेवकों में था जिसे युद्धाभ्यास के खेल बहुत प्रिय थे। लेकिन कभी कभी ऐसे प्रचारक भी आ जाते थे जो शाखा में शारीरिक व्यायाम कराने पर अधिक बल देते थे। ये मुझ बहुत खलता था। मैं मुखर हो कर ऐसे प्रचारकों का विरोध करता था। मुझे लगता कि वो शाखा की जीवंतता और स्वयंसेवकों के उत्साह पर पानी फेर रहे हैं। उस छोटी उम्र में भी इतनी समझ मुझ में थी कि स्वयंसेवक निरुत्साहित होगा, तो शाखा में नहीं आयेगा। और यही होता था। उन प्रचारकों में ये समझ नहीं थी और संघ कार्य के विस्तार में वो बहुत बड़ी बाधा थे। वो स्वयंसेवक क्या सोच रहा है, ये जानने का प्रयास तक नहीं करते थे। वो अपनी सोच और कार्यशैली थोपने में लगे रहते थे।

उन दिनों किसी संघ स्वयंसेवक को कोई हाथ लगा दे तो पूरी शाखा आंदोलित हो जाती थी। 'छेड़ो मत, छेड़ोगे तो छोड़ेंगे नहीं' ये क्षत्रियत्व भाव सब के मन में रहता था, उन स्वयंसेवकों के मन में भी जो व्यापारी परिवारों से आते थे। मुझे स्मरण है कि एक दिन जब मैं संघ स्थान से ध्वज डंड और उसके ऊपर लटकी भगवा झोली (जिस में ध्वज रखते हैं) के साथ संघ कार्यालय आ रहा था, कार्यालय की सीढ़ियों का पास मुझे कुछ ७ या ८ मुसलमान लड़कों ने घेर लिया। मेरे साथ मेरे एक ममेरे भाई शशिकांत सिंह थे जो बलिया में ही रहते और पढ़ते थे। वो मुझ से उम्र में कुछ साल बड़े थे। मैं यही कोई ८-९ वर्ष का था। मैं अभी तक नहीं जान पाया कि उन लड़कों ने मुझे क्यों घेरा था। उनमें से एक लड़के ने मुझे धक्का दिया और ध्वज और ध्वज डंड मेरे हाथ से छूट गया। मैंने गिरते हुए भी उसे संभाला फिर भी ध्वज की थैली थोड़ी से छू गई धरती से। मेरे ऊपर तो जैसे गाज गिरी हो, आँखों में आँसू थे और मन में क्रोध की पराकाष्ठा और उसके बाद जो हुआ उसकी कल्पना तक उन मुसलमान लड़कों ने नहीं की थी। मैं टूट पड़ा उन पर। शशिकांत धीर-गंभीर थे लेकिन ऐसे मौकों पर पीछे हटने वालों में से नहीं थे। हम दो उन ७-८ पर भारी पड़े। वो भाग खड़े हुए।

बाद के दिनों में कई ऐसे अवसर आए जब मेरा सामना बड़े बड़े और नामी गिरामी गुंडे बदमाशों से हुआ। आंदोलनों में पुलिस और प्रशासन से भी सामना हुआ, लाठी भी खाई, गिरफ्तार भी हुआ। मेरे अंदर का योद्धा भाव बना रहा। लेकिन ये भाव स्वयं के आत्म-सम्मान या रक्षा के लिये उतना नहीं जन्मता था। लेकिन यदि मेरे विचार, सिद्धांत, धर्म, देश और साथी स्वयंसेवक या कार्यकर्ता के सम्मान या जीवन पर आँच आ रही हो तो मैं सर्वदा लड़ने मरने के लिये तत्पर रहा, पहले और आज भी, परिणाम

की बहुत परवाह नहीं करते हुए।

मुझे स्मरण है काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के दिनों में जब एक दिन तड़के प्रातःकाल मेरे छात्रावास के कमरे में विज्ञान संकाय के अपने दो कार्यकर्ता, उनमें से एक सूबेदार सिंह थे जो आज कल नेता हैं वाराणसी में, ये बताने के लिये कि आये कि हमारे कुछ कार्यकर्ताओं को गिरफ्तार कर लिया गया है। मुझे कुछ पता भी नहीं था उनके किसी आंदोलन के बारे में। गिरफ्तार लोगों में कुछ 'नेता' भी थे विद्यार्थी परिषद के। मुझे स्मरण है किस तरह हम लोगों ने उपकुलपति निवास को घेरा और उस समय के कार्यकारी उपकुलपति डाक्टर अनंत रमन को विवश किया कि वो उन छात्रों को भेलुपुर थाने से छोड़ा कर लाएँ। मैं प्रबंध शास्त्र विभाग का विद्यार्थी था। मेरा निष्कासन भी हो सकता था। लेकिन मेरे लिये अधिक महत्वपूर्ण था कि मेरे साथी कार्यकर्ताओं पर आँच नहीं आये। कई ऐसे अवसर भी आये जब कि अपने किसी कार्यकर्ता के हित में मुझे थोड़ा झूठ बोलना पड़ा, पर मैं हिचका नहीं जब कि अपने हित के लिये झूठ बोलना मेरे लिये लगभग असंभव रहा है।

ऐसे कई दृष्टांत हैं छात्र जीवन के और बाद के जीवन के भी। अत्यंत विषम परिस्थितियों में भी विचार, सिद्धांत, राष्ट्र और धर्म के लिये लड़ना मेरी सोच और जीवन का अंग रहा है। यही कारण है कि उम्र के इस पड़ाव पर भी जहाँ तक हो सके इनके लिये लड़ता रहता हूँ, चाहे वो सोशल मिडिया के युद्ध हों या अपने आस पास के सामाजिक जीवन में।

अपने पुराने दिनों की सोचता हूँ तो लगता है कि संघ और इसके अनुषांगिक संगठनों के शीर्ष और मध्य नेतृत्व में विचारक, सेवाभावी, दार्शनिक, और छद्म बुद्धिवादी प्रकार के कार्यकर्ताओं और नेताओं की भरमार हो गई है, और योद्धाओं की कमी। इक्का दुक्का योद्धा निकलते हैं तो वो मारे जाते हैं, और शीर्ष पर बैठे कार्यकर्ता अपने व्यथित वक्तव्यों से श्रद्धांजलि दे कर अपना उत्तरदायित्व निभा देते हैं।

जो पश्चिम बंगाल, कर्नाटक, केरल, और देश के अन्य भागों में हिंदुओं तथा संघ और हिंदू कार्यकर्ताओं के साथ हो रहा है, उस पर पूरे देश में आक्रोश का ज्वार उठना चाहिये और एक रणनीति बना कर हर स्तर पर उसका अति-तीव्र, प्रभावी, और देशव्यापी प्रतिकार होना चाहिये। कार्यकर्ता पिटते, मरते, और कटते रहते हैं। सोशल मिडिया में एक दो बार व्यथा कथा सुना कर और मेनस्ट्रीम मिडिया को कुछ उलाहना दे कर संघ, भाजपा, विहिप, अभाविप, आदि संगठनों का शीर्ष नेतृत्व अपने कर्तव्य की इति श्री कर लेता है। ये आंदोलन के बजाय विचार गोष्ठियों और घिसे पिटे 'बोल वचनों' पर अधिक बल देता है।

आज के कुरुक्षेत्र में 'योद्धा दृष्टि' का ना होना निश्चित हार को निमंत्रण देने जैसा है। कहाँ से कब कौन सा तीर चले और आप की जान ले ले कुछ कह नहीं सकते। लेकिन एक सन्नद्ध और सचेत योद्धा त्वरित प्रतिकार में सक्षम होता है।

दबू नेतृत्व पूरे संगठन को दबू बना देता है। कार्यकर्ता किकर्तव्यविमूढ़ बने रह 'ऊपर' से आने वाले आदेश की प्रतीक्षा करते रहते हैं और स्वयमेव सोचने और युद्ध में जूझने की क्षमता खो देते हैं। वो अपेक्षा करते हैं कि केंद्र की सत्ता में बैठे कार्यकर्ता उनकी सुध लेंगे और संबल देंगे। जो होता नहीं, क्यों कि केंद्रीय नेतृत्व स्वभावतः संवेदनहीन होता है। उस के अंदर योद्धा भाव नहीं होता, वो वातानुकूल

परिस्थितियों में युद्ध क्षेत्र के मानचित्र पर अपने मोहरे घुमाने का आदी हो गया है। युद्ध क्षेत्र के अश्रु, स्वेद, रक्त, और धूल धूसरित वातावरण से दूर उसके पास धरातली योद्धा का दृष्टिकोण ही नहीं।

इस देश को और हिंदू समाज को आज शीर्ष से ले कर, अग्रिम पंक्ति तक सचेत और सन्नद्ध योद्धाओं की आवश्यकता है। यदि सारथी भी चाहिये तो कृष्ण की तरह, जो युद्ध क्षेत्र के मध्य में स्वयं रथ हाँक रहा हो, अपने योद्धाओं को घातक वारों से बचाता हुआ, उन्हें उस बिंदु तक ले जाते हुये जहाँ से वो अपना युद्ध कौशल दिखा सकें।

हिंदुओं की जब जब युद्ध में हार हुई है उसका मूल कारण रहा है हिंदू सेनापतियों और सम्राटों का अपने सैनिकों के पीछे हाथियों पर बैठ सैन्य संचालन करने की प्रवृत्ति जब कि शत्रु सेनापति अपने घोड़ों पर बैठ सामने से युद्ध कर रहा होता था, अपनी सेना का उत्साह बढ़ाते हुए। ये बात स्वामी विवेकानंद को १८५७ में लड़ चुके एक अंग्रेज सेनापति ने बताई थी जब अंग्रेजों की छोटी सैन्य दुकड़ियों ने १८५७ के संग्राम में संख्याबल में कहीं अधिक विद्रोही सेनाओं को हराया था।

ये प्रवृत्ति त्यागनी होगी। दबूपना छोड़ना होगा। युद्ध का नेतृत्व पीछे से नहीं आगे से करना होगा, एक योद्धा की तरह।

(साभार: <https://khullamkhulla.wordpress.com/> से)